अध्याय 2

साम्राज्यवादी अर्थव्यवस्था (Colonial Economy)

धन का निकास (Drain of Wealth)

'धन के निकास' का अभिप्राय भारत की राष्ट्रीय संपत्ति का इंग्लैंड की ओर ऐसा निर्यात जिसका उचित मुआवज़ा न आर्थिक रूप और न कच्चे माल के रूप में होता था। अधिकांश राष्ट्रीय शोधकर्ताओं के अनुसार भारत की गरीबी का मूल कारण यही था। यह बात पहली बार 19वीं शताब्दी के मध्य के बाद उठी और जिसने सभी राष्ट्रीय नेताओं को एक मंच पर एकत्रित कर दिया।

दादा भाई नौरोजी, 'द ग्रांड ओल्ड मैन ऑफ इंडिया', वह पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के यथार्थ को अपने आलेख "English Debt of India" में उजागर किया, जिसे उन्होंने 2 मई 1867 को लंदन में आयोजित होने वाले ईस्ट इंडिया एसोसिएशन में पढ़कर सुनाया गया। उन्होंने लिखा कि भारत में जितना राजस्व एकत्रित किया जाता है, उसका एक-चौथाई हिस्सा देश के बाहर चला जाता है और इंग्लैंड के संसाधनों में जा मिलता है। उन्होंने इसी विलय पर कुछ और आलेख भी पेश किए जैसे, "The Wants and Means of India" (1870) और "On The Commerce of India" (1871)। लेकिन जिस पुस्तक ने भारत और पूरी दुनिया का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया वह थी "Poverty and Un-British Rule in India"। उन्होंने ब्रिटिश शासन को लुटेरा, पापी, अत्याचारी, विनाशकारी और अन-ब्रिटिश कहा। उन्होंने कहा कि ऐसा सोचना मिथ्या है कि ब्रिटिश राज से भारत को कोई लाभ है। यह तो भारत का खून चूस रहा है।

दादा भाई नौरोजी अकेले ऐसे भारतीय नहीं थे, जिन्होंने यह स्वर बुलंद किया। जस्टिस गोविंद रानाडे, जो एक प्रसिद्ध राष्ट्रवादी और समाज सुधारक थे, ने 1872 में पूना में एक भाषण में कहा: 'भारत की राष्ट्रीय आय का एक-तिहाई से भी अधिक हिस्सा एक न एक तरीक़े से अंग्रेजों के द्वारा ले जाया जा रहा है।' एक अन्य राष्ट्रवादी नेता रमेश चन्द्र दत्त ने अपनी पुस्तक ''भारत का आर्थिक इतिहास'' में लिखा कि ''भारत के संपूर्ण वार्षिक राजस्व का आधा हिस्सा भारत से बाहर चला जाता है।'' उन्होंने बहुत ही दुख एवं पीड़ा के साथ लिखा कि भारतीय जल दूसरे के खेतों को सींच रहा है।

"धन के इस निकास" के सिलसिले में लेखों के माध्यम से देश के विभिन्न समाचारपत्रों में जिन लोगों ने लिखा, उनमें—गोपाल कृष्ण गोखले, पी.सी. राय, जी.वी. जोशी, एम.एम. मालवीय, डी.इ. बाथा, जी. सुब्रमनयम अय्यर, सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, और भोला नाथ चंद्र। अनेक राष्ट्रवादी समाचारपत्रों ने भी धन के इस बहाव की आलोचना की। उन समाचार-पत्रों में 'अमृत बाज़ार पत्रिका' का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है। लेकिन यह एक बहुत बड़ी विडंबना ही कही जायेगी कि अखिल भारतीय कांग्रेस ने अधिकारिक रूप में इस निकास के सिद्धांत को 1896 में कलकत्ता अधिवेशन में मान्यता प्रदान की। इसमें आश्चर्य की कोई बात भी नहीं थी क्योंकि उस समय कांग्रेस के अध्यक्ष दादा भाई नौरोजी थे।

एक आम आदमी को इस बात पर आश्चर्य हो सकता है कि सिकंदर, महमूद गज़नवी, शहाबुद्दीन गोरी, तैमूर, नादिर शाह और अहमद शाह अब्दाली आदि ने जितनी लूटमार मचायी उससे कहीं अधिक अंग्रेजों ने कंपनी के शासनकाल और ब्रिटिश राज के शासन काल में मचायी। पहले श्रेणी के लुटेरों ने, निस्संदेह भारत की धन संपत्तियों को नकदी, सोने, चांदी और बहुमूल्य चीज़ों के रूप में लूटा लेकिन उसका प्रभाव देश के कुछ लोगों पर ही पड़ा। केवल नादिर शाह ने आम नागरिकों से भी खून की होली खेली। इसके विपरीत ब्रिटिश राज में संपूर्ण देश प्रभावित हुआ। उसकी लूट लगातार और संगठित रूप में चलती रही।

एक आदमी यह तर्क दे सकता है कि भारत के बहुत से शासक विदेश से आये थे जैसे हिंद-यवन, शक, कुषाण, अरब, तुर्क, अफ़गान और मुग़ल आदि। इसलिए भारत में ब्रिटिश राज में ऐसा नया क्या था। उस आदमी को यह समझना चाहिए ये सभी शासक जो विदेश से भारत में आये, उन्होंने भारत को ही अपना स्थायी घर मान लिया। उन्होंने अपनी समस्त गतिविधियां—अच्छी या बुरी—देश की सीमा के अंदर ही जारी रखी। देश का धन देश के अंदर ही रहा और यहीं खर्च हुआ। इससे यदि सभी भारतीय लाभान्वित नहीं हो सके तो निश्चित रूप से भारत के ही कुछ लोग या कुछ समुदाय लाभान्वित हुआ। इसके अलावा इन शासकों ने भारतीय कला एवं उद्योग को बढ़ावा दिया। लेकिन जब भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना हुई तो भारतीय उद्योग धंधों को भारी नुकसान का सामना करना पड़ा, जबकि ब्रिटिश उद्योग धंधों को बहुत लाभ हुआ। ब्रिटिश राज की प्रकृति एवं स्वभाव ही भारत की धन संपत्तियों के बहाव (Drain of Wealth) का कारण बना।

राष्ट्रीय नेताओं ने इस बहाव के आंकड़े अलग-अलग पेश किये हैं। इसका मुख्य कारण यह था कि उन्होंने अलग तरीक़ों से गणना की। इसका कारण यह भी हो सकता है कि आयात की तुलना निर्यात लगातार बढ़ता जा रहा था। 1867 में दादा भाई नौरोजी ने अपने आंकड़ों में इस बहाव की राशि 8 मिलियन पाउंड बतायी। 1870 में यह राशि बढ़कर 12 मिलियन पाउंड हो गयी। 1905 में यह घोषणा की गयी कि 51.5 करोड़ रुपये (34 मिलियन स्टर्लिंग) की धनराशि प्रत्येक वर्ष इंग्लैंड स्थानान्तरित हो जाती है। 1888 में जी.वी. जोशी ने यह दावा किया था कि हर वर्ष 25 करोड़ रुपये की धन-संपत्ति इंग्लैंड स्थानान्तरित हो जाती है। डी.ई. वाचा ने इसी राशि को 30 से 40 करोड़ प्रतिवर्ष बताया है।

प्रत्यक्ष बहाव

18वीं शताब्दी तक यह बहाव प्रत्यक्ष रूप में होता था। यह बहाव प्लासी युद्ध के बाद निम्नलिखित रूपों में हुआ था—

1. "तोहफ़ा" या रिश्वत जो मीर जाफ़र, मीर क़ासिम और शुजाउद्दौला से लिया गया।
2. "दस्तक" यानी फ्री पास के जरिये बंगाल में व्यापारियों के ज़रिये मुनाफ़ा कमाया गया। कंपनी के कर्मचारियों द्वारा सस्ते-सस्ते मूल्य पर कच्चे माल की खरीदारी और फिर उससे इंग्लैंड में भारी मुनाफ़ा कमाना। इस तरह उन्होंने भारतीयों को संभावित लाभ से वंचित रखा।

बहाव का परोक्ष या अदृश्य रूप

धन के बहाव के इन प्रत्यक्ष कारणों के अलावा भी अनेक अदृश्य एवं परोक्ष कारण थे, जिसे राष्ट्रवादियों ने उजागर किया। वे ये थे:

1. वेतन का कुछ भाग, अंग्रेज कर्मचारियों की आमदनी और बचत जो भारत सरकार की सेवा में कार्यरत थे, जैसे—सेना, सिविल सर्विस, रेलवे कर्मचारी, डाक्टर, वकील आदि।
2. इन कर्मचारियों को इंग्लैंड में पेंशन और दूसरे भत्ते प्रदान किये जाते थे, जब वे भारतीय सेवा से सेवानिवृत्त होकर इंग्लैंड पहुंचते थे।
3. इंग्लैंड में भारत सरकार की ओर से जो राज्य सचिव होता था, उसके समस्त खर्चे भारत को देने होते थे। ये गृह खर्च कहलाते थे। जो ये थे :
   (क) राज्य सचिव के वेतन, भत्ते, पेंशन और उनके सहायक जो लंदन में भारतीय कार्यालय में काम करते थे।
   (ख) सेना और अन्य वस्तुएं जो भारत में आयात की जाती थीं, उसका पूरा खर्चा।
   (ग) नागरिक और सैनिक व्यय जिसे इंग्लैंड में भारत के खाते में खर्च किया गया।
   (घ) भारतीय लोगों को दिये गये कर्ज का ब्याज।
4. विदेशी पूंजी निवेश का लाभ, जिसे भारत के उद्योग-धंधों में लगाया गया।

बहाव के प्रभाव

आर्थिक प्रभाव

दादा भाई नौरोजी ने धन के इस बहाव को भारत के गरीबी का मूल कारण बताया। उनके अनुसार दूसरे सभी कारण इसके सामने गौण हैं। अन्य राष्ट्रवादी नेताओं ने भी इसी प्रकार के तर्क दिये और कहा कि भारत की गरीबी का प्रमुख कारण यही धन का बहाव है। उन्होंने ज़ोर देकर कहा कि यह बहाव केवल धन का अपव्यय ही नहीं है बल्कि यह मूलधन का भी ह्रास है। उनके नज़दीक बहाव के कारण रोज़गार और आय दोनों प्रभावित हो रहे हैं। यदि वह इंग्लैंड के स्थान पर यहां लगाया जाता तो उससे यहां रोजगार भी बढ़ता और आय भी होती।

भारत में उद्योग के आधुनिकीकरण की धीमी गति का मुख्य कारण भी धन का यह बहाव ही था। भारतीयों के पास निवेश के लिए पूंजी का अभाव था। दूसरी और अंग्रेजों के पास अथाह संपत्ति थी, जिससे इंग्लैंड में उद्योग धंधों का तीव्र गति से विकास हुआ। उनका तैयार माल भारत को एक बार पुन: लूटने के लिए वहां के कल-कारखानों से उत्पाद हो रहा था। इस तरह धन का यह बहाव भारत के उद्योग-धंधों को न पनपने देने की भी एक वजह बना।

धन के इस बहाव से आम नागरिक भी प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित हुए। बहाव के कारण भूमि का मूल्य भी बहुत बढ़ गया। खाद्य सामग्रियों की क़िल्लत भी धन के इस बहाव के कारण बढ़ी। किसानों को अनाज बेचने पर मजबूर होना पड़ा, जिसे निर्यात कर दिया गया। धन के इस बहाव से भारत की कृषि भी बुरी तरह प्रभावित हुई।

राजनीतिक प्रभाव

राष्ट्रवादी नेताओं ने अपने आलेखों, किताबों, और समाचार-पत्रों में बहाव के इस क्यूटी (सिद्धांत) को खुलकर उजागर किया। इसी एक मुद्दे पर वे एक मंच पर जमा हो सके। इसी बहाव के सिद्धांत के कारण इंग्लैंड और भारत में विवाद की शुरुआत हुई। उन्होंने खुलकर यह बात लोगों को बतायी कि आर्थिक कमियों को तो दूर किया जा सकता है लेकिन बहाव रोकने के लिए तो राजनीतिक उपाय ही ढूंढने होंगे। वास्तव में इस बहाव के मुद्दे ने नेताओं को और भी सक्रिय बना दिया।

बहाव या निकास के सिद्धांत के सामने आने के बाद आम नागरिकों में भी जागृति आयी। राष्ट्रवादी नेताओं ने इसे साधारण भाषा में उजागर किया। किसानों और आम लोगों को भी यह बात समझ में आने लगी कि इसी कारण उन्हें अधिक कर वहन करना पड़ता है। जब कांग्रेस पार्टी ने 1905 में कलकत्ता अधिवेशन में दादा भाई नौरोजी की अध्यक्षता में 'स्वराज' का प्रस्ताव पारित किया, तो बहाव का सिद्धांत निश्चित रूप से उनके मन में था।

उद्योग धंधों का बंद होना

ब्रिटिश राज में भारतीय उद्योग धंधों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। भारत के आधुनिक इतिहास में इसकी विस्तार से चर्चा की गयी है। राष्ट्रवादी इतिहासकार आर.सी. दत्ता, आर.पी. दत्त, ताराचंद आदि ने लिखा है कि ब्रिटिश की अनेक आर्थिक नीतियां और इंग्लैंड की औद्योगिक क्रांति के कारण भारत के परंपरागत उद्योग धंधों को बहुत नुकसान उठाना पड़ा। यह प्रक्रिया धीमी थी लेकिन बहुत घातक सिद्ध हुई। साम्राज्यवादी इतिहासकार यद्यपि इस आरोप का खंडन करते हैं। मोरिस डी. मोरिस, जो एक अमेरिकी स्कॉलर था, कहता है कि उद्योग धंधे के बंद होने का आरोप केवल एक कोरी कल्पना या गप्प है। यह भी एक रोचक सत्य है कि राष्ट्रवादियों ने भी इस मुद्दे को उतनी गंभीरता से नहीं लिया, जितना धन के बहाव के मामले को लिया। यहां तक कि इस उस समय के साहित्य में भी इस तरह के मुद्दे नहीं उठाये गये। आंकड़े से भी इसे आसानी से सिद्ध नहीं किया जा सकता है क्योंकि उस समय के गांवों, कस्बों, शहरों, वहां के कल-कारखानों और उनमें काम करने वाले के आंकड़े उपलब्ध ही नहीं हैं। लेकिन ऐतिहासिक विश्लेषण के ज़रिये ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के पहले और स्थापना के बाद की परिस्थितियों के तुलनात्मक अध्ययन से इसे समझा जा सकता है।

17वीं शताब्दी में भारतीय उद्योग

17वीं शताब्दी में भारतीय अर्थव्यवस्था सुदृढ़ एवं संतुलित थी। कृषि और व्यवसाय दोनों ही विकसित था और आंतरिक और विदेशी व्यापार को इससे बढ़ावा मिलता था। भारत के बने सूती और रेशमी कपड़ों की इंग्लैंड में बहुत मांग थी। ''लगभग सारी चीज़ें जो ऊनी या रेशमी कपड़ों से बनी हुई होती थीं, चाहे वह महिलाओं की पोशाक हो, या सोफ़े और फर्नीचर के ग़िलाफ़ वे सभी भारत से आयात होता था।'' [वीकली रिव्यू, 1708, थॉमस पी.जे. पृष्ठ 30]। इसके अलावा भारत का नील, मसाले ओर चटपटे सेंधा नमक की बहुत मांग थी। इंग्लैंड के बहुत से लोगों विशेषकर व्यापारी वर्गों का जो ऊनी और रेशमी कपड़ों का उत्पादन किया करते थे, को शिकायत थी कि भारतीय व्यापारी उनके यहां से धन एकत्रित कर ले जाते हैं।

पूंजीपतियों के दबाव में आकर अंग्रेजी सरकार ने सन 1700 ई० में एक प्रस्ताव पारित करके भारत, चीन और ईरान से आयात होने वाले सभी प्रकार के कपड़ों, रेशम, मलमल और रंगीन कपड़ों पर प्रतिबंध लगा दिया। प्रतिबंध के बावजूद भारतीय माल अंग्रेजों और अन्य यूरोपीय बाज़ारों पर छाया रहा क्योंकि इसकी बड़े पैमाने पर तस्करी होती थी। ईस्ट इंडिया कंपनी तस्करी में अग्रणी थी। 1720 ई. में एक दूसरा प्रस्ताव पारित हुआ, जिसके अंतर्गत उस आदमी को 50 पाउंड जुर्माना लगेगा जो भारत का बना रेशमी या मलमल का कपड़ा पहनेगा और जो उन्हें बेचेगा उसे 20 पाउंड जुर्माना लगेगा। फ्रांस के राजा लुइस XI ने 1726 में यह आदेश जारी किया कि जो भी भारत के सूती कपड़ों की तस्करी करेगा उसे भारी दंड दिया जायेगा यदि वह ऐसा तीन बार से अधिक करता है।

उद्योग धंधे बंद होने के कारण

1. इंग्लैंड की औद्योगिक क्रांति 1750 ई० में हुई और 1760 तक वह आधुनिक विश्व की एक बहुत बड़ी घटना बन गयी। इससे इंग्लैंड में बहुत से सकारात्मक बदलाव आए लेकिन भारत

के लिए सकारात्मक बदलाव नहीं थे। अंग्रेजों के हाथों भारतीयों की राजनीतिक पराजय ने सब कुछ अस्त-व्यस्त कर रख दिया। 1757 ई० में प्लासी और 1764 में बक्सर का युद्ध जीतने के बाद इंगलिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत से कच्चा माल मानचेस्टर और लंकाशायर निर्यात करना शुरु कर दिया। भारतीय बुनकरों को कच्चा माल उपलब्ध नहीं हो पाता था। और यदि किसी तरह से मिल भी जाता तो बहुत महंगा मिलता था।

2. अंग्रेजों द्वारा तैयार किया गया माल, विशेषकर सूती कपड़े, मिल में तैयार होने के कारण बहुत सस्ते होते थे। जबकि भारत में कपड़े हैंडलम के जरिये बुने जाते थे और महंगे होते थे। हाथ आखिर कब तक मशीन का मुकाबला कर सकता था।

3. 1813 के चार्टर एक्ट ने ईस्ट इंडिया कंपनी के एकाधिकार को समाप्त कर दिया (चाय के व्यापार और चीन से होने वाले व्यापार को छोड़कर) जिससे सैकड़ों अंग्रेजी कंपनियां भारत में आकर अपना तैयार माल बेचने लगीं।

4. हॉलैंड को छोड़कर लगभग सभी यूरोपीय देशों ने भारतीय तैयार माल के खिलाफ़ अपने यहां नीतियां बनायीं। यूरोपीय देशों ने भारतीय उत्पादों पर भारी कर लगा दिया। कुछ उत्पादों पर तो 200 प्रतिशत से लेकर 400 प्रतिशत तक कर लगा दिया गया। जबकि भारत में अंग्रेजी उत्पाद को नाममात्र का कर (2-10 प्रतिशत) लगता था। इस असमान मुकाबले में भारतीय उद्योग पिट गये। इस तरह भारत पर राजनीतिक नियंत्रण का सीधा प्रभाव भारतीय उद्योग के पतन पर पड़ा।

5. भारतीय रियासतों को ब्रिटिश इंडिया में मिला लेने की नीति भी उद्योग धंधे के बंद होने की एक बड़ी वजह बनी। क्षेत्रीय राजे, महाराजे, नवाब और दूसरे अधिकारी भारतीय कारखानों के विभिन्न उत्पादों जैसे—कपड़े, तलवारें, फर्नीचर, और दूसरी घरेलू चीज़ों के स्थायी ग्राहक थे। भारतीय रियासतों के विलय का अर्थ था भारतीय उत्पादों का बाज़ार समाप्त हो जाना। अब नये शासक वर्ग, गवर्नर जनरल, गवर्नर, सैनिक अधिकारी, सिविल सर्वेंट, सभी अंग्रेज थे। उनका स्वभाव और आवश्यकतायें अलग थीं। वे अंग्रेजी वस्तुयें—कपड़े, फर्नीचर, रोशनाई, कागज़, कलम-दवात, जूते, आदि—को अधिक पसंद करते थे। यहां तक कि भारत का उभरता हुआ मध्यम वर्ग भी अंग्रेजों की जीवन शैली को अपनाने और इंग्लिश चीज़ों के प्रयोग करने में गर्व महसूस करता था। भारत के आम आदमी गरीब थे और उनकी क्रय शक्ति इतनी नहीं थी कि भारी कर चुकाकर वे चीज़ें खरीदते। ज़ाहिर है भारतीय उद्योग धंधों का धीरे-धीरे पतन होता गया।

6. ढुलाई के आधुनिक साधनों की वजह से, विशेषकर रेल और सड़क मार्ग की सुविधा से भारतीय उद्योग-धंधे अत्यधिक प्रभावित हुए। खदानों और कृषि उत्पाद की जगहों को रेल और सड़क मार्ग के ज़रिये बंदरगाहों से जोड़ दिया गया। उसी तरह बंदरगाहों को उन बाजारों से भी जोड़ दिया गया जहां अंग्रेजी उत्पादों की खपत होती थी। इस तरह अंग्रेजी उत्पाद आसानी से भारतीय बाजारों में उपलब्ध होने लगे। यह एक सुविधाजनक एवं शांतिपूर्ण प्रक्रिया थी लेकिन इससे भारतीय उद्योग धंधों का पतन सुनिश्चित हो गया।

राष्ट्रवादी इतिहासकार हमेशा से ही भारत की किसी भी परेशानी के लिए अंग्रेजों पर आरोप मढ़ते रहे हैं। लेकिन यह बात ईमानदारी की नहीं हो सकती। कुछ आंतरिक कमियां, उपेक्षा और कमज़ोरियां भी थीं, जिसके कारण भारत के उद्योग धंधों का पतन हुआ।

सबसे पहला कारण तो यह है कि भारतीय उत्पादक नया बाज़ार तलाशने में विफल रहे। भारतीय व्यापारियों ने अन्य देशों और महादेशों को निशाना नहीं बनाया। भारत में महत्वाकांक्षी व्यापारियों की कमी रही और अधिकांश भारतीय उत्पादों को यूरोपीय कंपनियां ही क्रय-विक्रय करती रहीं।

दूसरा कारण यह रहा कि टीपू को छोड़कर किसी भी भारतीय शासक ने व्यापार नीति बनाने और उसे लागू करने की ओर ध्यान नहीं दिया। उन्होंने व्यापार एवं व्यवसाय को बढ़ावा देने के लिए कुछ भी नहीं किया। न आंतरिक स्तर पर, न विदेशी स्तर पर। उनकी अधिकारिक सभाओं में कभी भी व्यापार या व्यवसाय के सिलसिले में कोई चर्चा नहीं होती थी। उनके लिये ज़मीन की मालगुज़ारी ही सबसे बुनियादी और अकेला आय का साधन था।

तीसरा कारण यह रहा कि भारत के शासकों ने भी भी नौसेना को शक्तिशाली बनाने का नहीं सोचा। मुगल साम्राज्य का आधार उत्तर भारत था। इसलिए उनके लिये नौसेना, समुद्री व्यापार और व्यवसाय कभी भी महत्वपूर्ण नहीं रहा। यद्यपि मराठों और मैसूर के शासकों के पास जहाज़ थे लेकिन वे यूरोपीय जहाजों के मुक़ाबले के नहीं थे। भारत के समुद्री व्यापार पर 18वीं शताब्दी में यूरोपीय व्यापारियों का एकाधिकार था। यूरोपीय व्यापारियों में अग्रेज़, पुर्तगाली, डच और फ्रांसीसी आदि शामिल थे। एक बार जब इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति आई तो इंग्लैंड का बना माल भारत आने लगा। यदि समुद्री व्यापार पर भारत का अधिपत्य होता तो भारत में वहां का माल आना कठिन था।

उद्योग धंधों के बंद होने का प्रभाव

1. कल-कारखानों के उत्पाद और कृषि उत्पाद का यहां जो संतुलन बना हुआ था, वह पूरी तरह बिगड़ गया। मुग़ल के शासनकाल में किसान इन कल-कारखानों में काम किया करते थे। सरकारी कल-कारखानों से भी राजस्व आया करता था। लेकिन कल-कारखानों के बंद हो जाने के बाद भारत केवल कृषि प्रधान देश बन गया। लेकिन कृषि उद्योग में काम आने वाला कच्चा माल भी इंग्लैंड से आयात होने लगा।
2. कृषि पर बोझ बढ़ गया। पूंजी शहरों की ओर सिमटने लगी। कल-कारखानों में काम करने वाले मजूदरों की जब नौकरी छूट गयी और वे बेकार व बेरोज़गार हो गये तो फिर वे खेतों की ओर लौट आए। ये अनचाहे और अनावश्यक मज़दूर थे। इससे खेतों का बंटवारा शुरु हो गया। एक ही खेत में बार-बार फसल लगायी जाने लगी। मैदानों और जंगलों में भी खेती करने की कोशिश शुरु हो गयी। इससे गांव में मजदूरी करने वालों की संख्या काफ़ी बढ़ गयी। इससे बेरोज़गारी की समस्या बढ़ी। इस समस्या ने मज़दूरों के बीच अस्वस्थ्य मुक़ाबले बढ़े और लोग एक-दूसरे की जड़ काटने लगे।
3. इससे पारंपरिक भारतीय कला एवं संस्कृति का ह्रास हुआ। निश्चित रूप से यह भारत के लिए एक बड़ा सांस्कृतिक विनाश था।

भू-राजस्व व्यवस्था (जमींदारी, रैयतवारी और महलवारी)

जमींदारी प्रथा अर्थात स्थायी बंदोबस्त

जब से बंगाल, बिहार और उड़ीसा में 1772 ई० में ब्रिटिश राज की स्थापना हुई तभी से ईस्ट इंडिया कंपनी के लिए यह एक बहुत बड़ी एवं उलझी हुई समस्या थी कि यहां के राजस्व को कैसे नियंत्रण में लाया जाए। यह एक निजी व्यापार से जुड़ी कंपनी की और उसे राजस्व या न्याय प्रशासन के संबंध में कुछ भी पता न था। 1772 ई० में गवर्नर जनरल वारेन हैस्टिंग ने राजस्व एकत्रित करने के लिए सर्वाधिक बोली लगाने वाले को 5 वर्ष के लिए जिम्मेदारी सौंपी। लेकिन यह व्यवस्था राजस्व एकत्रित करने में पूरी तरह विफल रही। बोली लगाते वक्त जमींदारों ने बड़ी-बड़ी बोली लगा दी लेकिन वास्तव में अधिक जमींदार अपना वादा निभाने में असफल रहे।

1777 ई० में इस तरह की ठेकेदारी व्यवस्था को समाप्त कर दिया गया और वार्षिक राजस्व वसूल करने की व्यवस्था शुरु की गयी। लेकिन इससे और भी समस्या उलझ गयी और कंपनी का वार्षिक राजस्व अत्यधिक अस्थिर स्थिति में पहुंच गया। वार्षिक राजस्व वसूल करने की यह व्यवस्था ब्रिटिश संसद को पसंद नहीं आयी। इसलिए उन्होंने 1784 ई० में एक ऐक्ट पारित किया और कोर्ट ऑफ डायरेक्टर को यह आदेश दिया गया वार्षिक राजस्व वसूलने की व्यवस्था को बंद किया जाए और कोई स्थायी व्यवस्था लागू की जाए जिससे मालगुज़ारी से आने वाला राजस्व बढ़े।

1786 ई० में कोर्ट ऑफ डायरेक्टर ने लॉर्ड कार्नवालिस को आदेश दिया कि वे जमींदारों के साथ राजस्व वसूलने के लिए 10 वर्षीय मुआहिदा करें। और यदि यह व्यवस्था सही परिणाम देती हे तो उसे ही स्थायी व्यवस्था मान ली जाये। 1786 से 1789 तक कार्नवालिस और उसके सहयोगी जॉन शोरे ने बंगाल की ज़मीनों के सिलसिले में जानकारी एकत्रित की और समस्या के समाधान के सिलसिले में कुछ उपाय सोचे। उन्होंने तीन बातों पर विशेषतौर पर ध्यान दिया।

1. बंदोबस्त किनके साथ दिया जाए, जमींदारों के साथ या ज़मीन के असली मालिक के साथ।
2. कृषि उत्पाद का कितने भाग पर सरकार का अधिकार होगा।
3. बंदोबस्त कुछ निश्चित समय के लिये किया जाए या बंदोबस्त स्थायी रहे।

पहले प्रश्न के सिलसिले में जॉन शोरे ने यह तय किया कि जमींदार को ही ज़मीन का मालिक समझा जाए और वही सरकार को स्थायी रूप से वार्षिक राजस्व अदा करें। हालांकि जेम्स ग्रांट ने, जो कंपनी का रिकार्ड कीपर था, ने शोरे की व्यवस्था में संशोधन करते हुए लिखा कि देश के समस्त भूमि का मालिकाना अधिकार कंपनी के पास रहेगा। अकबर के दरबारी इतिहासकार अबुल फ़ज़ल के अनुसार, अकबर द्वारा अपनायी गयी व्यवस्था, जिसके अनुसार खेती करने वाला किसान उसी समय तक खेत का मालिक रहेगा जब तक वह कर देता रहेगा, को मान्यता दे दी गयी।

कार्नवालिस, जो ख़ुद भी एक ब्रितानी जमींदार था, ने जॉन शोरे की इस व्यवस्था को पसंद किया और यह फैसला किया कि बंदोबस्त जमींदारों के साथ ही होगा। उसने इस बात को समझा कि कंपनी के पास प्रत्यक्ष रूप से राजस्व वसूलने का न तो तजुर्बा है, न सामर्थ्य। इसलिए बंदोबस्त जमींदारों के साथ कर लिया जाए। कार्नवालिस के इस फैसले को कोर्ट ऑफ लॉर्ड्स ने भी मंजूरी दे दी।

दूसरे प्रश्न के सिलसिले में जेम्स ग्रांट ने सलाह दी कि उसी व्यवस्था को स्वीकार कर ली जाए जो जिस प्रकार मुग़लों ने 1765 ई० में बंदोबस्त किया था, क्योंकि सर्वाधिक राजस्व वसूलने का रिकार्ड उसी बंदोबस्त के तहत बना था। हालांकि शोरे का विचार था कि मुआहिदा चालू वर्ष में वसूले गये राजस्व के आधार पर किया जाना चाहिए। इस मामले में भी कार्नवालिस थे, जॉन शोरे के सुझाव पर मुहर लगायी और यह तय किया गया कि 1790-1791 में जितना राजस्व वसूल किया गया है उसी को आधार माना जाए।

तीसरे प्रश्न के बारे में कार्नवालिस और जॉन शोरे के विचार अलग-अलग थे। शोरे चाहता था कि बंदोबस्त एक निश्चित अवधि के लिए यानी 10 वर्षों के लिए होना चाहिए। जबकि कार्नवालिस की इच्छा थी कि बंदोबस्त स्थायी रूप से होना चाहिए। शुरु में यह बंदोबस्त 1790 से 10 वर्षों के लिए सुनिश्चित किया गया लेकिन 22 मार्च 1793 ई० में इसे स्थायी बंदोबस्त स्वीकार कर लिया गया। कोर्ट ऑफ डायरेक्टर ने कार्नवालिस की राय को अधिक महत्व दिया।

इस तरह बंगाल, बिहार, उड़ीसा, बनारस, तमिलनाडु का उत्तरी भाग—ब्रिटिश इंडिया का लभग 90 प्रतिशत क्षेत्रों के लिए जमींदारों से स्थायी बंदोबस्त हो गया। बंदोबस्त के अनुसार :

1. जमींदार भूमि के उस समय तक मालिक होंगे जब तक वे सरकार बहादुर को तय किया गया राजस्व अदा करते रहेंगे।
2. जमींदार को ज़मीन बेचने और खरीदने का अधिकार होगा। वे किसानों से उसे खाली भी करा सकेंगे यदि वह समय पर मालगुज़ारी अदा न करता हो।

3. जितना राजस्व वसूला जायेगा उसका 89 प्रतिशत सरकार का होगा और 11 प्रतिशत जमींदार का होगा।
4. सरकार का रैयतों से प्रत्यक्ष रूप स कोई संबंध नहीं रहेगा।

स्थायी बंदोबस्त की विशेषतायें

1. सरकार को पता चल गया कि भूमि की मालगुज़ारी से हर साल एक निश्चित राशि मिला करेगी। इस स्थायी बंदोबस्त के तहत जमींदार हर साल वह राशि जमा करने को राज़ी हो गये। यदि वे समय पर अदा न भी कर सके तो भी सरकार यह अनुमान लगा सकती थी कि उसे कितनी राशि आने की संभावना है। इस तरह आय की अनिश्चितता पर रोक संभव हो सकी।
2. सरकार प्रत्येक वर्ष आय का अनुमान लगाने और नया बंदोबस्त करने के झंझट से बच गयी।
3. स्थायी बंदोबस्त आगे चलकर जमींदारों के लिए बहुत लाभदायक सिद्ध हुआ। अधिक उत्पाद का पूरा लाभ जमींदारों को मिला क्योंकि सरकार की मांग तो एक निश्चित राशि की ही होती थी।
4. इससे वफ़ादारों की संख्या में बढ़ोतरी हुई। जमींदारों का आर्थिक हित ब्रिटिश इंडिया के क़ायम रहने पर निर्भर था। बाद में जमींदार बहुत प्रभावशाली हो गये। कार्नवालिस ने उन्हें राजनीतिक स्तर पर तो कमज़ोर किया लेकिन आर्थिक दृष्टि से बहुत संपन्न बना दिया था।

स्थायी बंदोबस्त के अवगुण

स्थायी बंदोबस्त के प्रतिकूल प्रभाव भी पड़े। बल्कि विचार किया जाए तो लाभ से अधिक हानि हुई। स्थायी बंदोबस्त के अवगुण निम्नलिखित थे:

1. **ग्रामीण क्षेत्रों में नये-नये जमींदारों का उदय:**- चूंकि ग्रामीण क्षेत्रों के अधिकांश जमींदार समय पर सरकार को निश्चित धन-राशि अदा नहीं कर सके इसलिए सरकार ने उनकी जमींदारी छीन कर नये लोगों को दे दी। केवल 22 वर्षों की छोटी सी अवधि में यानि 1793-1815 तक लगभग 50 प्रतिशत जमींदारों से जमींदारी छीन कर नये लोगों को दे दी गयी। नये जमींदार परंपरागत जमींदारों से अलग थे। उनमें से अधिकांश लोग शहरों के व्यापारी थे जो कभी-कभी ही अपनी जमींदारी का दौरा करने आते थे। राजस्व वसूलने का काम उनका एजेंट किया करते थे। इससे एक ऐसे वर्ग का जन्म हुआ जो गरीब किसानों का शोषण किया करता था। ये या तो पुराने जमींदार थे या नये जमींदारों के एजेंट। जमींदार गरीबों के पसीने की कमाई से खुलकर ऐश किया करता था। ये गरीबों का खून चूस कर शहरों में ऐशो-आराम का जीवन व्यतीत किया करते थे। इनमें अधिकांश लोग ऊंची जाति के हिंदू थे।
2. **महाजनों की चांदी:**- गरीब किसान समय पर अपना लगान अदा करने के लिए महाजनों से सूद पर क़र्ज़ लिया करते थे। मुग़लकाल में ये महाजन केवल शहरों में रहा करते थे। लेकिन जमींदारी प्रथा के लागू हो जाने के पश्चात् उनका काम गांव में बहुत बढ़ गया। वे लगान अदा करने के उद्देश्य से सूद पर पैसा लेने पर मजबूर थे। इस तरह इस व्यवस्था में महाजनों का महत्व बहुत बढ़ गया था।
3. सरकार को एक निश्चित राशि मिलती रही, हालांकि आगे चलकर यह सरकार के लिए घाटे का सौदा साबित हुआ। क्योंकि कंपनी को जो आमदनी 1793 ई० में थी वही 1947 तक मिलती रही। और जितना भी उत्पाद बढ़ा वह सब जमींदारों की जेब में गया।
4. बंगाल, बिहार और उड़ीसा में इस स्थायी व्यवस्थ का वहां की कृषि एवं आर्थिक विकास पर बहुत ही प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। जमींदार जो आमतौर पर शहरों में रहते थे, उन्हें कृषि या गांव

की समस्याओं से कोई लेना-देना न था। न उन्हें कृषि-भूमि के विकास का विचार आता था न उनके आर्थिक उत्थान और जीवन-स्तर के सिलसिले में वे कुछ सोचते थे।

दूसरी ओर किसानों के पास कुछ बचता ही नहीं था जिससे वे आर्थिक उत्थान के सिलसिले में कुछ सोचते। फिर उनमें आत्मविश्वास और उत्साह की कमी भी साफ़ झलकने लगी। क्योंकि उन्हें ऐसा लगने लगा कि उनके अथक परिश्रम करने के उपरांत उनके जीवन में कोई खुशहाली आने वाली नहीं है। उनके अथक परिश्रम का फल जमींदारों को ही मिलेगा।

इस स्थायी व्यवस्था का लाभ केवल जमींदारों और महाजनों को मिला। सरकार के लिए शुरु में यह व्यवस्था लाभदायक रही। गरीबी और बेरोज़गारी की मुख्य वजह मूल रूप से इसी स्थायी व्यवस्था की देन कही जा सकती है। हालांकि 1895 ई० में बंगाल कारतकारी अधिनियम के ज़रिये उन्हें कुछ सुविधाएं उपलब्ध कराने की कोशिश की गयी लेकिन उसका लाभ भी खुशहाल किसान ही उठा सके। अधिकांश किसानों को इस कानून का फायदा आज़ादी के बाद ही मिल सका।

रैयतवारी व्यवस्था

मालगुज़ारी से राजस्व वसूल करने में इंगलिश ईस्ट इंडिया कंपनी को तीन बुनियादी समस्याओं से जूझना पड़ता था। पहली बात तो यह थी, कि मालगुज़ारी वसूलने का काम कौन करे? दूसरे, कितना राजस्व वसूला जाए? (उत्पादन खर्च काटकर राजस्व वसूली हो या बिना काटे) और तीसरी बात यह कि यह व्यवस्था कितने दिन चलेगी स्थायी तौर पर रहेगी या 20-30 वर्ष के लिए होगी।

चूंकि स्थायी व्यवस्था में अनेक कमियां थीं इसलिए उसके समर्थक से अधिक उसका विरोध करने वाले थे। समस्या उस समय और भी गंभीर हो गयी जब कंपनी का विस्तार होने लगा और यह पता नहीं था कि जिस नये राज का कंपनी में विलय हो रहा है वहां यह व्यवस्था लागू होगी या नहीं होगी।

रैयतवारी व्यवस्था थोमस मुनरो ने पेश की थी। उनके अनुसार लोगों का हित ही हमारी व्यवस्था की मुख्य विशेषता थी। रैयतवारी व्यवस्था में मालगुज़ारी सीधे रैयतों से वसूली जाती थी। इस व्यवस्था को सर्वप्रथम मद्रास प्रेसीडेन्सी ने 19वीं शताब्दी में लागू किया। दिलचस्प बात यह है कि इस व्यवस्था को लागू करते समय मद्रास के इंगलिश अधिकारी रीड (Reid) ने कहा कि चूंकि मद्रास में बंगाल की तरह बड़े जमींदार नहीं हैं इसीलिए यह व्यवस्था अपनायी गयी है। भारत के अलग-अलग भागों में अलग-अलग व्यवस्था अपनायी गयी। कुछ ज़मीनों पर जागीर व्यवस्था लागू की गयी। कुछ इनाम के तोर पर ले ली गयी। कुछ पर क़ब्ज़ा कर लिया गया। सरकार चाहती थी कि हर जगह राजस्व वसूली में समानता लायी जाए। इसीलिए यह फैसला किया गया कि सीधे किसानों से राजस्व वसूल किया जाए। रैयतवारी व्यवस्था मद्रास, मालाबार, कनाडा, कुदूया, बिल्लेरी, कोयम्बटूर और करनूल में लागू की गयी।

तृतीय आंग्ल-मराठा युद्ध (1817-18) के बाद मराठा की संपूर्ण रियासत, जिसमें पूना और गुजरात भी शामिल था, बम्बई प्रेसिडेंसी में शामिल कर लिया गया। कंपनी को उन नये क्षेत्रों में रैयती व्यवस्था लागू करने में कोई झिझक महसूस नहीं हुई। रैयती व्यवस्था ब्रिटिश इंडिया के लगभग 52 प्रतिशत हिस्से पर लागू था।

इस व्यवस्था में किसानों को जमीनों का मालिक मान लिया गया और कुल उत्पाद का 50 प्रतिशत हिस्सा लगान के रूप में वसूला जाने लगा।

सरकार को लाभ

1. यह व्यवस्था स्थायी रूप से लागू नहीं होती थी बल्कि उसके लिए एक अवधि निश्चित कर दी जाती थी। आमतौर पर यह अवधि 30 वर्ष के लिए होती थी। इसलिए यदि उत्पाद बढ़ता तो सरकार इसी अनुपात में लगान की राशि भी बढ़ा सकती थी।

2. सरकार लगान के रूप में केवल नक़द रुपये वसूल करती थी इसलिये मूल्यों के बढ़ने से सरकार को लाभ होता था।
3. सरकार ऐसी भूमि को अपने क़ब्ज़े में ले सकती थी जिस पर किसी का कब्ज़ा नहीं होता था। जबकि स्थायी व्यवस्था में इस तरह की कोई व्यवस्था नहीं थी।

किसानों को लाभ

1. किसानों को मालिकाना अधिकार प्रदान किया जाता था। वे अपनी ज़मीन को बेच सकते थे, या आवश्यकता पड़ने पर ठेके पर/बटाई पर दे सकते थे।
2. वे बिचौलियों से बच जाते थे।

किसानों का हानि

1. कहने को तो मालगुज़ारी 'नेट आय' पर वसूली जाती थी लेकिन व्यवहार में उत्पाद-खर्च को जोड़ना संभव नहीं था। किसी भी किसान के लिए यह कठिन था कि वे अपने सारे खर्चों के रिकार्ड रखे कि बीज, खाद, जानवरों या मेहनत में कितनी रक़म खर्च हुई। इसलिए व्यवहार में सरकार पूरी आय पर ही राजस्व वसूल लेती थी।
2. चतुर एवं भ्रष्ट राजस्व अधिकारी ने अपनी राजनैतिक पैठ बना ली थी।
3. कर की ऊंची दर किसानों को महाजनों से कर्ज़ लेने पर विवश कर देती थी। कुछ अन्य सामाजिक एवं धार्मिक कर्मकांडों के लिए भी किसान कर्ज़ लेता था। सूद की दर इतनी अधिक होती थी कि किसान के लिए उसे चुका पाना बहुत मुश्किल होता था। और यदि वह चुकाना भी चाहता तो चूंकि जमीन के कागज़ात महाजनों के पास होता था और वह एक न एक बहाने से उन कागज़ों को लौटाने से इंकार कर दिया करता था। ब्रिटिश पुलिस और न्यायपालिका भी किसानों के बदले महाजनों का ही साथ दिया करती थी। इसीलिए रैयती व्यवस्था में किसानों की अवस्था बहुत बिगड़ गयी। इसमें भी कोई आश्चर्य नहीं है कि ब्रिटिश इंडिया के उसी इलाक़े में आसमानी प्रकोप जैसे सूखा, या बाढ़ आदि का प्रभाव रहा जहां रैयती व्यवस्था लागू थी।
4. किसान खेतों या कृषि भूमि का या खेती की प्रणाली को कर के अधिक होने के कारण विकसित नहीं कर सके।

इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अंग्रेज अधिकारी (रीड सरीखे) जो अतिशयोक्तिपूर्ण वक्तव्य देते थे, उनमें कोई वास्तविकता नहीं थी। 19वीं शताब्दी के अंत में सरकार ने यह घोषणा की कि कर केवल कुल उत्पाद पर ही वसूला जायेगा और सहायता राशि भी उन्हीं किसानों को दी जायेगी जिन पर आसमानी प्रकोप की मार पड़ी होगी। और उन लोगों को कर में छूट दी जायेगी यदि भूमि उपजाऊ न होगी। डकन एग्रीकल्चरल रिलीफ़ ऐक्ट-1879 में साफ़ तौर पर यह कहा गया था कि ज़मीन को स्थानान्तरित नहीं किया जायेगा। लेकिन ये वादे केवल कागज़ों में दिखे। किसानों को प्रकृति, महाजन और सरकारी अधिकारियों की मार झेलने को अकेला छोड़ दिया गया।

महलवारी व्यवस्था

'महल' का अर्थ होता है गांव। महलवारी व्यवस्था में बंदोबस्त गांवों से होते थे, किसानों से नहीं। इस व्यवस्था को संयुक्त रियासतों के पश्चिमी भाग, पंजाब और मध्यवर्ती रियासतों में लागू किया गया था। इस इलाक़े में गांवों में बहुत एकता थी। इस व्यवस्था को लागू करने का श्रेय हाल्ट मैकेन्ज़ी (Halt Mcanzee) को जाता है। 1822 में इसे कानूनी मान्यता प्रदान कर दी गयी जबकि इसे 1833-34 में लागू किया गया।

विशेषताएं

1. भू-राजस्व की दर 'महल या ग्राम' पर तय की जाती थी। क्षेत्रीय जमींदार या लंबरदार ही इसका ज़िम्मेदार हुआ करता था। वही किसानों की ओर से भू-राजस्व दिया करता था।
2. आरंभ में नेट-उत्पाद का दो-तिहाई हिस्सा मालगुज़ारी का सुनिश्चित किया गया था लेकिन बाद में इसे घटाकर एक-तिहाई कर दिया गया था।
3. किसानों को अपना लगान ज़मींदारों के पास जमा करना पड़ता था। किसानों को जो अदा करना होता था उसकी प्रतिशत मात्रा सुनिश्चित थी।
4. किसान अपनी भूमि को बेच भी सकते थे और रहन भी रख सकते थे।
5. कहीं तो यह बंदोबस्त 30 वर्षों के लिए हुआ तो कहीं 20 वर्षों के लिए।

सरकार को लाभ

1. एक आदमी से राजस्व की वसूली, सभी किसानों से अलग-अलग वसूलने से आसान भी था और सरकार के लिए सस्ता भी था।
2. यह व्यवस्था देश के कुछ भागों में पहले से भी लागू थी। इसलिए सरकार को इसे लागू करने में कोई परेशानी नहीं हुई।
3. सरकार को अलगे 20-30 वर्षों के लिए एक सुनिश्चित राशि की आय तय हो गयी।

लेकिन किसानों को इससे बहुत ही कम लाभ मिले। वे केवल इस बात से खुश हो सकते थे कि वे भ्रष्ट अधिकारियों के शोषण से बच गये थे। लेकिन उन्हें कुछ वास्तविक समस्याओं को झेलना पड़ता था जिसे नीचे दिया जा रहा है।

1. भू-राजस्व की ऊंची दर, जो नेट उत्पाद का 50 प्रतिशत तक थी।
2. नेट उत्पाद का विचार बहुत भ्रामक था जैसा कि रैयती व्यवस्था में विस्तार से बताया गया है।
3. जमींदार और भू-स्वामी किसानों के शोषण के लिए मौजूद थे।
4. महाजन अपनी चतुराई से ज़मीनों पर क़ब्ज़ा कर लेते थे।

1857 तक सरकारी ढांचे की रूप-रेखा

ईस्ट इंडिया कंपनी का सीधा शासन 1772 ई० में शुरु हुआ जब वारेन हैस्टिंग ने बंगाल की दोहरी सरकार को समाप्त किया। उस समय तक कंपनी बिना कोई ज़िम्मेदारी उठाये शक्ति का आनंद ले रही थी। अब, 1772 ई० के बाद कंपनी को वास्तविक प्रशासनिक समस्याओं को झेलना पड़ा। ईस्ट इंडिया कंपनी को इसका कोई अनुभव नहीं था क्योंकि मूल रूप से एक व्यापारिक कंपनी थी। राजस्व वसूली, सिविल और न्यायिक प्रशासन लेकिन अपने तजुर्बे का एक ही मूल उद्देश्य का, कि अधिक से अधिक लाभ हो। उसके प्रशासन के उसूल के मुताबिक़ यदि कानून और व्यवस्था की स्थिति सुधारना है तो उसके मूल में भारतीय का अधिकाधिक शोषण हो लेकिन कोई गड़बड़ी न हो।

ईस्ट इंडिया कंपनी ने युद्ध करना और रियासतों को अपने में मिलाने का काम 18वीं शताब्दी के मध्य से शुरू किया। कंपनी ने ब्रिटिश सरकार के लिए भी समस्या खड़ी कर दी। ब्रिटिश सरकार के लिए सबसे बड़ी समस्या यह बन गयी कि वह कंपनी को कैसे नियंत्रण में लाये।

कंपनी के कर्मचारियों ने निजी व्यापार और तोहफ़ों आदि से बहुत धन कमाया, विशेषरूप से 1757 के प्लासी युद्ध के बाद। जब ये कर्मचारी अपनी क़िस्मत बनाकर इंग्लैंड वापस हुए तो इंग्लैंड के लोग वहां के व्यापारी यहां तक कि वहां के राजनीतिज्ञ भी उनसे ईर्ष्या करने लगे। वे भी धनवान बनना चाहते थे। इंग्लिश मीडिया ने ईस्ट इंडिया कंपनी के कर्मचारियों की छवि को बिगाड़कर पेश करना शुरू किया। उन्होंने बंगाल के गवर्नर रॉबर्ट क्लाइव को भी नहीं छोड़ा। उन्हें 'नवाब' कहकर पुकारा

गया और उन्हें शोषक और लुटेरा कहा गया। यहां यह बहुत ही महत्वपूर्ण बात है कि इन सभी प्रयासों का उद्देश्य भारतीयों को शोषण से बचाना नहीं था बल्कि वे स्वयं भी वैसा ही अवसर चाहते थे जैसा कि कंपनी को मिला हुआ था। ब्रिटिश स्वयं भी भारत से कमाना चाहती थी ताकि इंग्लिश नागरिकों पर कर का बोझ न डाला जाए।

ब्रिटिश सरकार की ओर से सबसे पहली सफल कोशिश यह हुई कि एक संसदीय अधिनियम के माध्यम से ईस्ट इंडिया कंपनी को मजबूर किया गया कि वह प्रत्येक वर्ष चार लाख पाउंड ब्रिटिश ट्रेज़री में जमा करे। ब्रिटेन के बहुत से लोग चाहते थे कि ईस्ट इंडिया कंपनी को और क़ाबू में लाया जाए। इंग्लैंड का उभरता हुआ पूंजीपति वर्ग भी ईस्ट इंडिया कंपनी के एकाधिकार को समाप्त किया जाए ताकि वे भी अपना उत्पाद भारत में जाकर बेच सकें और वहां से सस्ता कच्चा माल खरीद सकें। लेकिन ब्रिटिश संसदीय राजनीति में फैले व्यापक भ्रष्टाचार की कृपा कहिये या किंग जार्ज-III का समर्थन, जो कि ईस्ट इंडिया कंपनी के संरक्षक (Patron) भी थे, ईस्ट इंडिया कंपनी सुरक्षित रही। ईस्ट इंडिया कंपनी और ब्रिटिश सरकार के बीच एक सहमति बन गयी। यह तय पाया कि ब्रिटिश सरकार कुछ मूलभूत नीतियां सुनिश्चित करेगी और ईस्ट इंडिया उन्हीं सिद्धांतों के आधार पर भारत पर राज करेगी और कंपनी का एकाधिकार पूर्वी व्यापार पर यथावत बना रहेगा और भारतीय अधिकारियों की नियुक्ति आदि की ज़िम्मेदारी भी कंपनी की होगी।

रेगुलेटिंग ऐक्ट, 1773

रेगुलेटिंग ऐक्ट-1773 ब्रिटिश संसद द्वारा पारित वह पहला प्रस्ताव था, जिसमें ब्रिटिश सरकार ने ईस्ट इंडिया कंपनी के लिए कुछ निर्देश दिये थे। वारेन हैस्टिंग (Warren Hasting) को बंगाल का गवर्नर जनरल नियुक्त किया गया और चार सदस्यों की एक कार्यकारणी समिति का गठन किया गया जो गवर्नर-जनरल को सहयोग किया करेगी।

इस प्रस्ताव ने गवर्नर जनरल (कार्यकारिणी समिति के सहयोग से) यह अधिकार प्रदान किया गया कि वह प्रशासन के कार्यों को सुचारू रूप से चलाने के लिए नियम-क़ानून बना सकती है। वारेन हैस्टिंग को यह एक बहुत बड़ी ज़िम्मेदारी दी गयी कि वह एक व्यापारी कंपनी को सरकार की प्रशासनिक इकाई में बदल दे।

वारेन हैस्टिंग के प्रशासन और रेगुलेटिंग ऐक्ट-1773 में निम्नलिखित कमियां थीं:

1. रेवेन्यु (राजस्व) अधिकारी के पास भी मजिस्ट्रेटों जैसे अधिकार मिल गये थे जो जमींदारों की सुरक्षा की अनदेखी किया करता था
2. जमींदारों की सुरक्षा की ज़िम्मेदारी कंपनी के सेवकों या बनियों को दे दी गयी थी। यही तरीका 1793 तक चलता रहा और इसी दौर में बंगाल की अधिकांश ज़मीन जमींदारों के हाथों से निकल कर बनियों के पास चली गयी।
3. रेगुलेटिंग एक्ट 1773 के अनुसार, समस्त शक्तियां कौंसिल के माध्यम से गवर्नर जनरल को प्रदान की गयी थी, गवर्नर जनरल को व्यक्तिगत रूप में नहीं दी गयी थी। फैसला बहुमत के आधार पर होना था। इस व्यवस्था ने वारेन हैस्टिंग के लिए राजनीतिक समस्या खड़ी कर दी क्योंकि कौंसिल के अन्य सदस्य उनका सहयोग नहीं करते थे।
4. रेगुलेटिंग एक्ट 1773 यह बताने में असमर्थ था कि गवर्नर जनरल और मद्रास और बंबई प्रेसिडेंसी के गवर्नर के बीच क्या संबंध रहेंगे।
5. रेगुलेटिंग एक्ट ने न्यायपालिका को दो भागों में विभाजित कर दिया। एक ओर यूरोपीयों के लिए कलकत्ता में सुप्रीम कोर्ट की स्थापना की गयी जो इंग्लिश क़ानूनों के तहत फैसला देती थी। दूसरी ओर सदर दीवानी और सदर निज़ामी कोर्ट की स्थापना की गयी, जो भारतीय क़ानूनों और गवर्नर जनरल इन कौंसिल द्वारा सुझाये गये नियमों के अनुसार फैसला करती थी।

पिट्स इंडिया एक्ट, 1784

पिट्स इंडिया एक्ट–1784 ने इन कमियों को दूर करने की कोशिश की। इसके प्रमुख अंश ये हैं:

1. कार्यकारिणी समिति के सदस्यों की संख्या चार से घटाकर तीन कर दी गयी। गवर्नर जनरल के लिए अब किसी एक सदस्य की स्वीकृति ही प्रस्ताव को पारित करने के लिए काफ़ी था।
2. एक "बोर्ड ऑफ कंट्रोल" की स्थापना की गयी। जिसका मुख्यालय इंग्लैंड में होगा और राष्ट्रपति सहित उसके 6 सदस्य होंगे। उसके सभी सदस्य कमिश्नर कहलायेंगे। यह बोर्ड 'कोर्ट ऑफ डायरेक्टर' की जगह काम करेगा।
3. ताज (Crown) को यह अधिकार होगा कि वह कंपनी के किसी भी सेवक को जब चाहे बुला ले या निष्कासित कर दे।
4. 'बोर्ड ऑफ़ कंट्रोल' कंपनी के सारे कागज़ात को देखेगा और व्यापार संबंधित मामलों को छोड़कर उसकी अनुमति सभी मामलों में आवश्यक होगी।

इस तरह पिट्स इंडिया एक्ट ने ब्रिटिश संसद को भारत के मामलों को देखने का अधिकार दे दिया। इस एक्ट के बाद राज्य सचिव, गवर्नर जनरल और भारतीय कौंसिल के लिए दिशा–निर्देश जारी करने लगा।

प्रशासनिक क़ानूनों में संशोधन

जब लॉर्ड कार्नवालिस 1786–1793 में गवर्नर जनरल बना, तो उसने प्रशासनिक क़ानूनों में अनेक संशोधन किये। उसने निजी व्यापार के खिलाफ़ क़ानून बनाये और अधिकारियों की रिश्वतखोरी पर सख़्ती के साथ रोक लगायी। भ्रष्टाचार को रोकने के लिए उसने कंपनी के कर्मचारियों के वेतन में वृद्धि की। कलक्टर को 1500 रुपये मासिक वेतन के साथ। प्रतिशत कमीशन देन भी तय किया गया। लेकिन उसने भारतीय लोगों को प्रशासनिक सेवाओं से अलग कर दिया। उसने यह काम 1793 ई० में किया। 1793 ई० में यह अधिकारिक रूप से घोषणा कर दी गयी कि ऐसे सभी प्रशासनिक, सैनिक, पुलिस या न्यायपालिका की सेवाओं में केवल अंग्रेज अधिकारी ही नियुक्त होंगे, जिनका मासिक वेतन 500 पाउंड से अधिक था। यह नीति पूरी तरह से पक्षपात आधारित थी। और यह भेदभाव पैदा करने के लिए लागू की गयी थी।

वे भारतीय अधिकारियों की क्षमता और वफादारी पर भरोसा नहीं करते थे। कार्नवालिस ने एक बार कहा था। "भारत का प्रत्येक नागरिक भ्रष्ट है।" लेकिन यह केवल एक बहाना था। भारतीय अधिकारियों को सेवाओं से अलग करने का वास्तविक कारण कुछ और ही था।

पहली बात तो यह कि उन्हें विश्वास था कि एक भारतीय कभी भी ब्रिटिश हितों के लिए काम नहीं कर सकता जैसा कि एक अंग्रेज कर सकता है। दूसरी बात यह थी कि इंग्लैंड का प्रभावशाली वर्ग चाहता था कि उनके निकट संबंधियों एवं परिजनों को भारतीय सेवाओं में भेजा जाये। तीसरे वे भारतीयों को स्वयं पर निर्भर रखना चाहते थे ताकि उनके आत्मसम्मान को चोट लगे और वे मानसिक रूप से गुलामी स्वीकार कर लें। इस तरह सभी उच्च एवं संभ्रांत सेवायें अंग्रेजों के लिये आरक्षित कर दी गयीं। भारतीय केवल सहयोगी सेवाओं की आशा कर सकते थे। वह भी केवल इसलिए कि उन पदों पर गोरे काम करना नहीं चाहते थे। न्यायपालिका में कोई भी भारतीय मुंसिफ से ऊंचे पद पर नहीं पहुंच सकता था। पुलिस विभाग में दरोग़ा बन सकता था और प्रशासनिक सेवा में डिप्टी कलक्टर बन सकता था। सिविल सेवा को सर्वाधिक गौरव का पद माना जाता था जो केवल ब्रिटिश हितों की रक्षा करता था। ब्रिटिश राज में इसे ही "लौह ढांचा" कहा जाता था।

न्यायपालिका में संशोधन

कॉर्नवालिस ने न्यायपालिका में अनेक संशोधन किये। इसे ही 'कॉर्नवालिस कोड' के नाम से जाना

जाता है। जमींदारों से पुलिस और अदालती अधिकार छीने लिये गये। भू-राजस्व वसूलने के काम को न्यायपालिका से पूरी तरह अगल कर दिया गया। राजस्व संबंधी न्यायालय को समाप्त कर दिया गया। दीवानी और फ़ौजदारी मुक़दमों के लिए अलग-अलग अदालतें स्थापित हुईं।

दीवानी अदालत

1. इसमें लगान और पैसे के लेन-देन के मामले निबटाये पाते थे। दीवानी अदालत को इन दोनों तरह के मामलों में फैसला देने का अधिकार था।
2. निचली अदालत "मुन्सिफ़ की अदालत" कहलाती थी और उसमें 50 रुपये तक के मामले निपटाये जाते थे। मुन्सिफ़ भारतीय अधिकारी होते थे।
3. रजिस्ट्रार, मुंसिफ से ऊपर की अदालत होती थी। यह 200 रुपयों तक के मामले की सुनवायी कर सकता था।
4. रजिस्ट्रार के ऊपर जिला न्यायालय हुआ करता था। इसमें अंग्रेज जजों की सहायता के लिए पढ़े-लिखे हिंदू और मुसलमान अधिकारी नियुक्त होते थे।
5. कलकत्ता, ढाका, मुर्शिदाबाद और पटना में प्रांतीय न्यायालय का गठन होता था। यहां भी अंग्रेज न्यायाधीशों की मदद के लिए भारतीय अधिकारी नियुक्त होते थे जो उन्हें परामर्श दिया करते थे।
6. सदर दीवानी अदालत ही उच्च न्यायालय कहलाता था। इसमें गवर्नर जनरल और उसके कौंसिल के सदस्य फैसले सुनाया करते थे।
7. अंतिम अपील इंग्लिश सम्राट और उसके कौंसिल के सामने की जा सकती थी।

फ़ौजदारी अदालत

1. जिला फौजदारी अदालतों की स्थापना की गयी थी जो एक जगह से दूसरी जगह स्थानान्तरित होती रहती थी। और इसके जज अंग्रेज हुआ करते थे।
2. मुर्शिदाबाद, कलकत्ता, ढाका और पटना में चार प्रांतीय फौजदारी न्यायालय बनाये गये थे।
3. 'सदर निज़ामत' को हाई कोर्ट का दर्जा प्राप्त था और उसका मुखिया स्वयं गवर्नर जनरल हुआ करता था। गवर्नर जनरल और उसके कौंसिल के सदस्य फैसला किया करते थे।

'कोर्नवालिस कोड' की अन्य विशेषताएं

1. दीवानी मुक़दमों में हिंदुओं का फैसला उनके शास्त्रों के अनुसार होता था। विशेष रूप से मनु स्मृति को आधार माना गया था। मुसलमानों का फैसला इस्लामी शरीयत के अनुसार होना तय किया गया।
2. फौजदारी न्यायालयों का इस्लामी शरीयत के आधार पर गठन किया गया था और फिर उसमें संशोधन करके हिंदुओं और मुसलमानों दोनों के लिए स्वीकार्य बना दिया गया था।
3. गवाहों का नियम बदल दिया गया था। पहले मुस्लिम गवाहों को गैर-मुस्लिम गवाहों की तुलना में अधिक महत्व दिया जाता था।
4. शारीरिक यातनाओं को बंद कर दिया गया। उसके बदले 'सश्रम कारावास' दिया जाने लगा।
5. कंपनी के अधिकारी, कलेक्टर सहित, को भी क़ानून के दायरे में रहने का आदेश दिया गया। उन्हें भी कानूनी अदालत का सामना करना होगा।

इस तरह भारत में धीरे-धीरे कानून की व्यवस्था प्रारंभ हो गयी। कानून की नज़र में सबको समान समझा जाने लगा।

विलियम बेंटिंक द्वारा आरंभित संशोधन

विलियम बेंटिंक (William Bentinck) जब गवर्नर जनरल बने तो उन्होंने भी कुछ संशोधन किये:

1. भारतीयों को 'सदर अमीन' का पद प्रदान किया गया। 'डिप्टी मजिस्ट्रेट' और 'डिप्टी कलक्टर' का पद भी सृजित किया गया।
2. क्षेत्रीय भाषाओं के उपयोग की अनुमति भी प्रदान की गयी। पहले न्यायालय का सारा काम फारसी में होता था।
3. 1833 के चार्टर एक्ट (सेक्शन 87) के अनुसार कंपनी में किसी भी पद पर भारतीय होने के लिये किसी भी भारतीय को उसकी जाति, नस्ल, धर्म, भाषा या जन्म स्थान के आधार पर भेदभाव नहीं किया जायेगा। चार दशकों तक तो यह क़ानून केवल कागजों की हद तक ही सीमित रहा लेकिन जैसे-जैसे जागृति आती गयी, अंग्रेज भारतीयों को भी विभिन्न पदों पर नियुक्त करने लगे।
4. कॉर्नवालिस द्वारा स्थापित 'प्रोविज़िनल कोर्ट ऑफ अपील' और 'भ्रमणकारी न्यायालयों' को समाप्त कर दिया गया। क्योंकि वह अपने उद्देश्यों को पाने में असफल सिद्ध हुआ था। इन अदालतों के अधिकार मजिस्ट्रेट और कलेक्टरों की ओर स्थानान्तरित कर दिया गया जो राजस्व आयुक्त और सर्किट की निगरानी में काम करते थे।